

## संदर्भ

कमल नयन चौबे (2015), 'जंगल में वनवासियों के अधिकार : कानूनी रूपरेखा और बदलाव का संघर्ष', जंगल की हकदारी: राजनीति और संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

:[http://kafila.org/2009/6/25\\_gaon-chodab-nahin/](http://kafila.org/2009/6/25_gaon-chodab-nahin/) 16 जून 2014 को देखा गया.

के.जी. कन्नाबिरन (2004), द वेजेज ऑफ इम्युनिटी, ओरियंट ब्लैक स्वान, नयी दिल्ली.

डेविड हार्डीमैन (2002), 'दक्षिण गुजरात में आदिवासी आत्माग्रह : 1922-23 का देवी आंदोलन', शाहिद अमीन तथा ज्ञानेंद्र पाण्डेय (सं.), निम्नवर्गीय प्रसंग, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (2011), लीनिएजिज ऑफ पॉलिटिकल सोसाइटी: स्टडीज इन पोस्टकोलोनियल डेमोक्रेसी, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

मनोरंजन मोहंती (1998), पीपुल्स मूवमेंट: सोशल मूवमेंट ऐंड द स्टेट इन थर्ड वर्ल्ड, सेज, नयी दिल्ली.

वेरियर एल्विन (1941), लॉज ऑफ नर्व : अ कंसेप्टिव स्टडी ऑफ द कंटेंट्स ऑफ पीपुल्स इन एबऑरिजनल एरियाज ऑफ बस्तर स्टेट ऐंड द सेंट्रल प्रोविंसेज ऑफ इण्डिया, वैगल प्रेस, मुम्बई और नयी दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (1997), 'इंट्रोडक्शन', सुदीप्त कविराज (सं.), पॉलिटिक्स इन इण्डिया, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

----- (2000), 'द मॉडर्न स्टेट इन इण्डिया', जोया हसन (सं.) पॉलिटिक्स ऐंड द स्टेट इन इण्डिया, सेज.

# सैद्धांतिक बहस और फील्ड की आवाज़ें

सागर तिवारी

अंग्रेजों का भारत-आगमन यहाँ की वन-भूमि व उनके बसे लोगों के लिए आमूलचूल बदलाव लेकर आया। पूँजीवादी मंथन से गुजरती ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के लिए यह उपमहाद्वीप बाजार एवं कच्चे माल के विशाल स्रोत के रूप में उभरा। शुरुआती दौर में भारतीय वनों ने ब्रिटिश जहाजरानी उद्योग को उम्दा लकड़ी मुहैया कराया। इसके बाद अंग्रेजों का ध्यान समूचे भारतीय साम्राज्य को रेलवे से जोड़ने की ओर मुड़ा जिसमें पटरियाँ बिछाने के लिए उपजी लकड़ियों की बृहद् माँग ने वनों का महत्त्व और बढ़ा दिया। 1857 के विद्रोह को अंग्रेजी हुकूमत ने कुचल तो दिया, परंतु इस मद पर हुए विशाल खर्चों ने शासकों के समक्ष एक गम्भीर वित्तीय संकट से निपटने की चुनौती भी प्रस्तुत की। इन्हीं परिस्थितियों ने भारतीय वन अधिनियम की रचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

उल्लेखनीय है कि भारत में हर जगह वनों का विनियमन और नियंत्रण सरकारी वन-विभाग के पास है जिसके कारण यह महक्रमा औपचारिक रूप से भारत का सबसे बड़ा जमींदार बन गया है। इस विशाल विभाग द्वारा संचालित जंगलों में ऐसे लाखों परिवार रहते हैं जो जीवनयापन के लिए जमीन पर निर्भर हैं। वे जंगल की जमीन पर मोटे अनाज जैसे कोदो, कुटकी, ज्वार, बाजरा इत्यादि उगाते हैं जो



क्रान्नी रूप से अवैध है। वन-विभाग एवं वनाश्रित समुदायों के बीच लगातार एक तनातनी बनी रहती है। वन-भूमि पर पीढ़ियों से रह रहे लोगों को भी एक अंतहीन दमन चक्र झेलना पड़ता है। वन-विभाग की नजर में इनकी हैसियत मात्र 'अतिक्रमक' की रही है।

हाल तक ये समुदाय क्रानून-संगत वैध नागरिकता की परिधि से आगे नहीं बढ़ पाए थे। इस स्थिति में एक आमूलचूल परिवर्तन 2006 में आया जब भारतीय संसद ने अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पारम्परिक वन निवासी (वन अधिकार की मान्यता) अधिनियम को मंजूरी प्रदान की। वन-अधिकार क्रानून के नाम से चर्चित यह अधिनियम वनाश्रित समुदायों के लम्बे संघर्ष की परिणति थी। इसने व्यक्तिगत तथा सामुदायिक अधिकारों को वैधता प्रदान की और इस तरह इन समुदायों पर हुए ऐतिहासिक अन्याय को स्वीकारते हुए उन्हें नागरिकता से जुड़े हक मुहैया कराने की पहल की गयी। इसी वन अधिकार क्रानून को धुरी बनाते हुए कमल नयन चौबे ने *जंगल की हकदारी : राजनीति और संघर्ष* की रचना की है। यह उनके पीएचडी-प्रबंध का विस्तृत रूप है जिसे माधव गाडगिल, रामचंद्र गुहा, महेश रंगराजन, अनिल अग्रवाल सरीखे विद्वानों के संबंधित विमर्श से आगे की कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए।

प्रथम अध्याय में कमल ने एक गहरी सैद्धांतिक और विचारधारात्मक बहस की रूपरेखा खींची है। औपनिवेशिक शासन में कई प्रक्रियाओं द्वारा एक नयी श्रेणी के रूप में 'वन' या 'जंगल' की क्रान्नी निर्मित की गयी। उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्र-राज्य और लोकतंत्र के दौर में भी जंगल के अंदर निजी सम्पत्ति, क्रानून का शासन, संसाधनों पर राज्य के एकाधिकार (एमिनेंट डोमेन) जैसे तमाम मुद्दों पर यह हस्तक्षेप बदस्तूर जारी रहा। इस बहस में जनजाति की संकल्पना और मूल निवासी का विमर्श, सम्पत्ति की संकल्पना तथा जंगल की ज़मीन एवं संसाधनों पर आदिवासियों के हक, पर्यावरण तथा वन्य-जीवों के संरक्षण से जुड़े क्रानूनों के प्रभाव और इसके अंतर्गत लोकतांत्रिक समाज में होने वाले बदलाव जैसे मुद्दों का भी खाका खींचा गया है। यह बहस पार्थ चटर्जी द्वारा उत्तर-औपनिवेशिक लोकतंत्रों की कार्य-प्रणाली की व्याख्या हेतु प्रतिपादित नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) और राजनीतिक समाज (पॉलिटिकल सोसाइटी) के विमर्श से भी संवाद करती है। गौरतलब है कि चटर्जी से सहमति प्रकट करने के बावजूद कमल यह मानते हैं कि उनका द्विखण्डीय सैद्धांतिक ढाँचा जंगल पर निर्भर करने वाले समुदायों की राजनीतिक व्याख्या नहीं कर पाता।

### इतिहास के आईने में वन-भूमि आश्रित समुदाय व 'अतिक्रमण'

कमल की रचना का दूसरा अध्याय उपनिवेशकालीन एवं स्वतंत्र भारत के काल-खण्डों में पोषित वन-नीतियों का बेहतरीन वृत्तांत है। इस अध्याय में कमल ने एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है: 'क्या जंगल के संबंध में स्वतंत्र भारत की सरकार ने लोकतांत्रिक तरीके से काम किया या इस दौर में अपनाई गयी नीतियाँ औपनिवेशिक नीतियों की निरंतरता मात्र थीं?' उन्होंने गाडगिल / गुहा बनाम ग्रोव के बीच हुए जटिल ऐतिहासिक विमर्श को सरलीकृत रूप में बखूबी पेश करते हुए यह भी साबित किया है कि अंग्रेजों द्वारा लागू 'वन क्रानून' का मकसद वन संसाधनों का दोहन करना था। कालांतर में वन-विभाग ने न सिर्फ लकड़ी बल्कि टेसिन, शाल, तारपीन, लाख, महुआ, तेंदु-पत्ता जैसे अनेकानेक वनोपजों पर अपना वर्चस्व स्थापित किया और औपनिवेशिक राज्य की कामधेनु गाय बन गया। वन-प्रबंधन की इस औपनिवेशिक नीति का सबसे बड़ा खमियाजा वनवासी लोगों को अदा करना पड़ा जिन्हें 'न तो जंगल के संसाधनों में कोई हक दिया गया और न ही इसके संरक्षण में कोई भूमिका दी गयी'। अपनी नीतियों के खिलाफ विद्रोह और हिंसात्मक संघर्ष को देखते हुए बाद में अंग्रेजों ने ज़मीनी स्तर पर अपने सख्त क्रानूनों को लचीला बनाया। कई इलाकों में इन समूहों को 'झूम खेती' करने की 'छूट' तो मिली परंतु अधिकार किसी क्रीमत पर नहीं दिया गया। गौरतलब है कि आजादी के आंदोलन में भी कांग्रेस ने आदिवासियों तथा वन-आश्रित समुदायों के मुद्दों की अवहेलना और अनदेखी करती रही।



प्रथम अध्याय के दूसरे भाग में 1947 से 1996 तक की भारतीय वन नीति, इसकी प्राथमिकताओं और वनवासी समुदायों पर इनके प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। सही मायनों में यह हिस्सा मौलिक है और राष्ट्रीय स्तर पर वन-नीति का बेहतरीन खाका प्रस्तुत करता है। कमल दिखाते हैं कि स्वाधीनता के बाद भी वन-नीति में कोई आमूल-चूल बदलाव नहीं आया। केवल विमर्श के स्तर पर भी 'सार्वजनिक हित' की जगह 'राष्ट्रीय हित' ने ले ली। ऐमिनेंट डोमेन का सिद्धांत, जो वन-विभाग को सर्वेसर्वा बनाता था, बदस्तूर जारी रहा। राज्य नियंत्रित वनों के क्षेत्रफल में अभूतपूर्व इज़ाफ़ा हुआ। नतीजतन इनमें बसने वाले आदिवासी 'अतिक्रमक' घोषित कर दिये गये। आदिवासी समुदाय 'लिखित पट्टे' की अवधारणा से अपरिचित थे। अमूमन उनके अधिकार भी तय नहीं किये गये थे। नेहरूवादी योजनात्मक विकास के उभरते परिदृश्य में विशाल बाँध और कल-कारख़ाने आधुनिक भारत के नये 'मंदिर' बने। इन्हें खड़ा करने की प्रक्रिया में हुए विस्थापन का भी मुख्य बोझ इन्हीं वनाश्रित समुदायों के कंधों पर पड़ा।

1952 की राष्ट्रीय वन नीति के फलस्वरूप वन-विभाग के दायरे और अधिकार-क्षेत्र में भी निरंतर वृद्धि हुई। इसके द्वारा अर्जित राजस्व और वनकर्मियों की संख्या में भी अभूतपूर्व इज़ाफ़ा हुआ। जनसंख्या वृद्धि ने भी वनों पर ज़्यादा दबाव डाला, किंतु कमल के अनुसार 'जंगलों की दुर्दशा के लिए मुख्य रूप से वन-विभाग की ग़लत नीतियाँ ही ज़िम्मेदार थीं'। 1976 में संविधान के बयालीसवें संशोधन के द्वारा वनों को राज्यों की सूची से हटा कर समवर्ती सूची में शामिल कर लिया गया। इस दौर का दूसरा प्रमुख परिवर्तन था 1980 में पारित वन (संरक्षण) अधिनियम। इन बदलावों का एक दूरगामी असर यह हुआ कि आदिवासियों को भूमि अधिकार मिलना लगभग नामुमकिन हो गया। इसके ठीक विपरीत 'औद्योगिक विकास के नाम पर बहुत ज़्यादा मात्रा में वन-भूमि को सामान्य ज़मीन में बदला गया'। राज्य की इन हस्तक्षेपकारी नीतियों के चलते सत्तर के दशक से नये सामाजिक आंदोलन भी उपजे। इनमें प्रमुख थे चिपको व नर्मदा बचाओ आंदोलन। इनकी अनुक्रिया में 1988 में नयी राष्ट्रीय वन नीति तथा बाद में पेसा क़ानून, 1996 सामने आया। इनमें स्थानीय समुदायों और वन-विभाग के बीच तारतम्यता बढ़ाने की मंशा से प्रावधान रखे गये।

## वन अधिकार क़ानून का निर्माण

किताब का तीसरा अध्याय वन अधिकार क़ानून, 2006 के निर्माण की कहानी बयान करता है। लेखक के अनुसार इस नये क़ानून के ज़रिये भारत सरकार की मंशा आदिवासियों के बीच माओवादियों के बढ़ते प्रभाव पर लगाम लगाने की थी। इसी के तहत जनवरी, 2005 में प्रधानमंत्री ने आदिवासी मामलों के मंत्रालय को विधेयक-निर्माण संबंधित निर्देश दिये। एक तकनीकी सहायता समूह द्वारा विधेयक तैयार किया गया। लेखक ने विधेयक के समर्थन में चले आंदोलनों और उसमें शामिल अलग-अलग मोर्चों का सुरुचिपूर्ण वर्णन किया है। इन संगठनों में प्रमुख नाम हैं भारत जन आंदोलन, राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच, कैम्पेन फ़ॉर सरवाइवल ऐंड डिग्नटी, एकता परिषद, पुनर्वास संघर्ष समिति इत्यादि। इन सभी ने विधेयक के विषय पर जन-सुनवाईयाँ आयोजित कीं और वन-आश्रित समुदायों के मध्य क़ानून के पक्ष में जागरूक व संगठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनके योगदान की ही बदौलत जनता का दबाव बढ़ा। शनैः-शनैः प्रमुख राष्ट्रीय व प्रांतीय पार्टियाँ भी विधेयक में सुधार लाकर उसे संसद से जल्द पारित कराने के पक्ष में आ खड़ी हुईं।

लेकिन विधेयक की विवादपूर्ण स्थिति और दूरगामी प्रभाव को भाँपते हुए सरकार ने सुरक्षित रास्ता अपनाया और मसविदे के निरीक्षण हेतु एक संयुक्त संसदीय कमेटी का गठन किया। इस कमेटी ने संरक्षणवादियों की चिंताओं को लगभग पूरी तरह ख़ारिज कर दिया और आदिवासी संगठनों की तक्ररीबन सभी प्रमुख माँगें स्वीकार कर लीं।

### फ्रील्ड की आवाज़ें

पुस्तक का चौथा अध्याय गहन फ्रील्ड वर्क पर आधारित है। इसके तहत लेखक ने जंगल की ज़मीन पर 'बेजा क़ब्ज़ा' के जटिल मसले की परतों को समझने का प्रयास किया है। लेखक ने छत्तीसगढ़ में आदिवासी बहुल सरगुजा ज़िले के चार गातों (तेखरानाला, फयदू, सटोरा और खेखरापोहर) को चुना और कई माह वहाँ बिताए। इस दौरान लेखक ने उक्त गाँवों की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक बनावट और सांस्कृतिक जीवन का रोचक दृश्य उकेरा है। उन्होंने ग्रामीण बुजुर्गों से सामूहिक रूप से बात की ताकि इनका हालिया इतिहास जाना जा सके। इसी प्रकार अन्य ग्रामीण परिजनों से वार्तालाप करके उनके रोज़मर्रा के जीवन, खेती की स्थिति, जंगल पर निर्भरता और आजीविका के मुद्दों— मसलन मज़दूरी आदि के विषयों पर जानकारी एकत्र की।

लेखक ने दिखाया है कि सरगुजा ज़िले में जंगल की ज़मीन पर बेजा क़ब्ज़ा या अतिक्रमण एक सामान्य परिघटना जान पड़ती है। ग्रामीणों का मानना है कि पटवारी के भ्रष्टाचार की वजह से भूमि का ग़लत वितरण हुआ है, परंतु इस असमान आबंटन में निश्चय ही वर्ग और जातिगत समीकरणों की भी अहम भूमिका रही है। इस अध्ययन में 1997-98 में तेखरानाला तथा सटोरा गाँव में चले विस्थापन विरोधी आंदोलनों का भी वर्णन दिया गया है। इन आंदोलनों के खिलाफ़ सरकार ने दमनकारी मुद्रा अपनाई और हिरासत में लिए आंदोलनकारियों पर सख्त धाराओं के अंतर्गत मुक़दमे ठोक डाले। उसे उम्मीद थी कि इससे आंदोलन की आर्थिक कमर टूट जाएगी। किंतु सरकार ने उनका उत्साह ठण्डा न होते देख क्रदम खींच लिए।

इस अध्याय का एक और संजीदा पहलू है माओवादियों के प्रभाव का विवरण। जंगली क्षेत्रों में नक्सलियों की दखलअंदाज़ी बढ़ने से एक तरफ़ वन-विभाग की मनमानी पर अंकुश लगा है, वहीं दूसरी ओर गाँव के लोगों द्वारा पेड़ काट कर ज़्यादा खेत बनाने की प्रवृत्ति पर भी लगाम कसी है। कई ग्रामीणों ने जंगलों के संसाधनों की सुरक्षा के लिए माओवादियों की तारीफ़ की है। फयदू और सढोय गाँवों में इनका प्रभाव है। यहाँ इनकी घुसपैठ 2004-05 के दौरान हुई थी। कमल के इस वर्णन से यह बात साफ़ दिखाई देती है कि लोगों के जीवन पर वन-विभाग का बहुत गहरा प्रभाव है। लेखक के मुताबिक़ 'वन-विभाग के कर्मचारी स्थानीय समुदायों को न सिर्फ़ संदेह की दृष्टि से देखते हैं बल्कि उन्हें सारी समस्याओं की जड़ भी मानते हैं। यह भी साफ़ है कि स्थानीय समुदायों और वन-विभाग के बीच आपसी विश्वास की ज़बरदस्त कमी है।'

### वन अधिकार : क़ानून के क्रियान्वयन की प्रक्रिया

वन अधिकार क़ानून के क्रियान्वयन से संबंधित अपने अध्याय में कमल ने फ्रील्ड वर्क के गाँवों के अलावा अन्य राज्यों का ब्योरा भी जुटाया है। इन आँकड़ों से काफ़ी चौकाने वाली जानकारी सामने आती है। मसलन, कुछेक अपवादों छोड़कर समूचे भारत में वन-भूमि पर पट्टों के दावे नकार दिये गये हैं। क़ानून के क्रियान्वयन के दौरान वन-विभाग समेत समस्त सरकारी तंत्र ने ग्राम-सभा की उपेक्षा की है और 'जान बूझ कर क़ानून के लागू होने में रोड़े अटकाए' हैं। विशेषकर वन-विभाग ने अपनी श्रेष्ठता थोपने का अनवरत प्रयास किया है।

क़ानून लागू होने के बाद भी जंगल के संसाधनों तथा उसके संरक्षण में स्थानीय समुदायों की हिस्सेदारी की मुकम्मल तस्वीर नहीं उभर पाई है। विशेषकर सामुदायिक अधिकारों की पूरी तरह अवहेलना की गयी है। अध्याय के एक संक्षिप्त हिस्से में लेखक यह भी दिखाते हैं कि सलवा जुड़ूम तथा ऑपरेशन ग्रीन हंट द्वारा प्रभावित बड़े वन-क्षेत्रों में राज्य प्रायोजित हिंसा अथवा राज्य के दमन के कारण ही यह क़ानून लागू नहीं हो पाया है।

अध्याय में राजाजी नेशनल पार्क के संरक्षित क्षेत्रों में वन गुर्जनों के संघर्ष का दिलचस्प विश्लेषण



मिलता है। यहाँ भारत के अन्य अभयारण्यों, वन अधिकार क़ानून के संदर्भ में कुछ विशेष श्रेणी के वन-आश्रित समुदायों जैसे पीटीजी (प्रिमिटिव ट्राइबल ग्रुप), चुमंतू (यायावर) चरगाही समुदाय, झूम खेती करने वाले समुदाय एवं वन गाँवों की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने नये क़ानून की विकास योजनाओं के संदर्भ में व्याख्या की गयी है। उनका कहना है कि आंदोलनकारियों और स्थानीय समुदायों ने वन अधिकार क़ानून का उपयोग एक हथियार के तौर पर किया है। बेशक, इन संघर्षों में सामुदायिक जागरूकता एवं संगठित गोलबंदी भी अहम रूप से मौजूद रही है। पर फिर भी कॉरपोरेट-राज्य के मज़बूत गठजोड़ को चुनौती देने में 'क़ानून उनके संघर्ष का एक बहुत महत्वपूर्ण दायरा और एक साधन है।'

इस अध्याय में वन अधिकार क़ानून के तहत संघर्षों में महिलाओं की भूमिका का भी आकलन किया गया है। इसमें प्रस्तुत अधिकतर साक्ष्य व वितरण राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच (एनएफएफपीडब्ल्यू) के हवाले से आया है। गौरतलब है कि इस क़ानून का एक सबसे प्रगतिशील प्रावधान यह रहा है कि पति एवं पत्नी दोनों के नाम ज़मीन का पट्टा दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त अकेले जीवनयापन कर रही महिलाओं को भी अधिकार दिया जाएगा। लेकिन बाक़ी श्रेणियों की ही भाँति यह अधिकार उनकी झोली में आ नहीं पा रहे हैं। अन्य वर्गों की तरह विशेषकर इनके सामूहिक दावे ख़ारिज किये जा रहे हैं। इसके विरुद्ध महिलाएँ लामबंद भी हुई हैं और वनोपजों पर अपनी भागीदारी सुनिश्चित करवाने के लिए कमर कसकर संघर्षरत भूमिका में हैं। महिलाओं की इस भागीदारी से उनकी राजनीतिक सम्भावनाएँ भी अधिक विस्तृत और बलवती हुई हैं। कमल लिखते हैं कि 'यह एक तरह से ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद (लीगलिज़्म फ़्रॉम बिलो) का प्रसार है। ऐसे में क़ानून संघर्ष के एक ऐसे स्थल के रूप में तब्दील हो चुका है, जहाँ राज्य इकतरफ़ा तरीक़े से स्थानीय वनवासी समुदायों पर अपनी मन मर्ज़ी नहीं थोप रहा है, बल्कि वन वनवासी लोग भी अपने हक़ की लड़ाई में क़ानून का बेहतर इस्तेमाल कर पा रहे हैं। कम-से-कम वन अधिकार क़ानून इस संदर्भ में एक सम्भावना का द्वार ज़रूर खोलता है।

लेखक ने पाँच विस्तृत अध्यायों के बाद पूरी पुस्तक को समेटते हुए एक कसा हुआ निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। इस छोटे निबंध में कमल ने 2011-12 तक घटित क़ानूनी संशोधनों और जन-सत्याग्रह आंदोलनों की रूपरेखा पेश की है। उनका मानना है कि अपनी समस्त प्रगतिशीलता के बावजूद वन अधिकार क़ानून की अपनी सीमाएँ हैं। मसलन, इस क़ानून में जंगल की ज़मीन पर वन-विभाग का दबदबा ख़त्म करने की क्षमता तो ज़रूर है परंतु इस सारगर्भित सम्भावना की पूर्ति हेतु वन-आश्रित समुदायों को निरंतर संघर्षरत रहना होगा। एक प्रकार से यह रस्साकशी का खेल है जिसमें क़ानून बीच की रस्सी है। ऐसे में, जीत ज़्यादा दम लगाने वाले पक्ष को ही मिलेगी।

## खूबियाँ व कमियाँ

कमल नयन चौबे की यह पुस्तक शोध के ऊँचे मापदण्डों को क़ायम रखती है। इसकी भाषा चुस्त एवं सुरुचिपूर्ण है। कमल ने विश्लेषण को लगभग हर जगह बिंदुवार तरीक़े से प्रस्तुत किया है जो कि इस जटिल समस्या की गाँठ खोलने का सही तरीक़ा है। पुस्तक की काल-क्रमात्मक व विवरणात्मक शैली भी इसे जंगल भूमि के गूढ़ विषय पर एक सम्यक ग्रंथ बनाती है।

जब संसाधनों पर छिड़ी जंग ने सम्पूर्ण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था को धरातल पर पटक दिया हो, अथवा जब मध्य भारत में गृहयुद्ध जैसी परिस्थितियों से आदिवासियों का रोज़ साक्षात्कार हो रहा हो, तब इस खेल में लगाए गये दाँव बहुत ऊँचे हो जाते हैं। ऐसे में यह मानना कि नागरिक समाज के समस्त अंग-प्रत्यंग निःस्वार्थ भाव से आदिवासियों का केवल भला ही चाहते हैं और उनमें कोई दुराव भी मौजूद नहीं रहा है, एक संदिग्ध बात लगती है।

जब संसाधनों पर छिड़ी जंग ने सम्पूर्ण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था को धरातल पर पटक दिया हो, अथवा जब मध्य भारत में गृहयुद्ध जैसी परिस्थितियों से आदिवासियों का रोज़ साक्षात्कार हो रहा हो, तब इस खेल में लगाए गये दाँव बहुत ऊँचे हो जाते हैं। ऐसे में यह मानना कि नागरिक समाज के समस्त अंग-प्रत्यंग निःस्वार्थ भाव से आदिवासियों का केवल भला ही चाहते हैं और उनमें कोई दुराव भी मौजूद नहीं रहा है, एक संदिग्ध बात लगती है।





लेकिन, अंत में पुस्तक की कुछ खामियों की ओर इशारा करना ग़ैर-मुनासिब न होगा। मेरे खयाल में पहले अध्याय में प्रस्तुत सैद्धांतिक विमर्श कुछ ज़्यादा विस्तृत हो गया है। किताब में 55 पृष्ठों का जटिल सैद्धांतिक तानाबाना सामान्य पाठक वर्ग को विचलित एवं जकड़ सकता है। इसमें कसावट की गुंजाइश थी। पुस्तक के बाक़ी अध्याय रोचक शैली में तो ज़रूर लिखे गये हैं परंतु इसमें भी कुछ चुभने वाली कमियाँ हैं। मसलन 'बेजा क़ब्ज़ा' शब्द हर दफ़ा इन्वरटेड कॉमा में प्रयुक्त हुआ है। कई जगह इसकी अतिशयोक्ति हो जाती है। उदाहरण के लिए पृष्ठ 244-45 पर मौजूद पैरा में यह 11 बार और पृष्ठ 220-222 पर एक निहायत ही लम्बे पैरा में 20 बार इसी रूप में दोहराया गया है। इसी तरह की अनुशासनात्मक कमी के चलते तर्कों एवं विश्लेषणात्मक बिंदुओं की भी पुनरावृत्ति हुई है। उदाहरण के लिए माओवादियों के प्रभाव से संबंधित विचार अन्य जगह भी फैले हुए हैं।

मुझे पुस्तक में दो तात्त्विक कमियाँ भी महसूस हुईं। पहली, सम्पत्ति के विषय पर गहन सैद्धांतिक विवेचना के पश्चात् फ़्रील्ड-वर्क आधारित अध्याय में प्रस्तुत वस्तुनिष्ठ तथ्यों से इस विवेचना का संवाद होना चाहिए था। वन अधिकारों में मौजूद सामुदायिक अधिकारों के महत्त्व एवं वन-विभाग द्वारा इनकी जानबूझकर की गयी उपेक्षा को कमल ने बख़ूबी उजागर किया है परंतु विश्लेषण के इस स्तर से ऊपर उठने के लिए सिद्धांत का आचरण से द्वंद्वत्मक संबंध स्थापित करना एक आवश्यक शर्त है। मुझे लगता है कि लेखक ने वन अधिकार क़ानून से सम्बद्ध नागरिक समाज की भूमिका का बेहद सरलीकृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जब संसाधनों पर छिड़ी जंग ने सम्पूर्ण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था को धरातल पर पटक दिया हो, अथवा जब मध्य भारत में गृहयुद्ध जैसी परिस्थितियों से आदिवासियों का रोज़ साक्षात्कार हो रहा हो, तब इस खेल में लगाए गये दाँव बहुत ऊँचे हो जाते हैं। ऐसे में यह मानना कि नागरिक समाज के समस्त अंग-प्रत्यंग निःस्वार्थ भाव से आदिवासियों का केवल भला ही चाहते हैं और उनमें कोई दुराव भी मौजूद नहीं रहा है, एक संदिग्ध बात लगती है। शायद लेखक ने अपने अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को दरकिनार किया है। वह यह है कि 'क्या हाशिये के समाज ने नागरिक समाज को हमेशा सकारात्मक भूमिका में ही देखा है?'

वन अधिकार आंदोलनों पर लगातार नज़र रखने वाले यह सच्चाई भली-भाँति जानते हैं कि आदिवासी आंदोलनों में नागरिक समाज से ताल्लुक रखने वाले लोगों की भूमिका कई दफ़ा संदेहास्पद भी रही है। इन्होंने कई बार सत्ता, कॉरपोरेट एवं स्थानीय सेट-साहूकारों के साथ हाथ मिलाकर अपने स्वार्थ सिद्ध किये हैं। एकता परिषद इसका बेहतरीन उदाहरण है। इस संगठन ने जनता-जनार्दन के बीच 'जल जंगल और ज़मीन' का नारा ख़ूब प्रचारित किया। विस्थापन के विरुद्ध विभिन्न राज्यों में अनेकानेक पद-यात्राएँ, जन-सुनवाईयाँ और जन-सत्याग्रह के गाँधीवादी राह पर चले। एक दौर तक इन्हें अपार जन-समर्थन भी मिला किंतु कई बार इनके आला 'अधिकार-अधिवक्ताओं' ने बेसिर पैर के निर्णय लेकर आंदोलन की संचित ऊर्जा और उम्मीदों को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की बलि चढ़ा दिया।

बहरहाल, कमल नयन चौबे ने इस पुस्तक पर बहुत परिश्रम किया है और वे बधाई के पात्र हैं। भविष्य में इस विषय पर काम करने वाले अध्ययनकर्त्ताओं के लिए यह किताब अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी तथा आगे की राह प्रशस्त करेगी।

